P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-6* ISSUE-4*(Part-2) December- 2018
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

हिन्दी नाटकों के जीवन्त स्त्री पात्र

वीरेन्द्र भारद्वाज
एसोसिएट प्रोफेसर,
हिन्दी विभाग,
शिवाजी कालेज,
दिल्ली, भारत

सारांश

हिंदी नाटकों में स्त्री की उपस्थिति आधुनिक काल में जिस तरह विकसित होती है उल्लेखनीय है। संस्कृत की द्वय मानसिकता से अलग भारतेंदु युग से ही नाटककारों ने स्त्री की संघर्षमयी चरित्र को चित्रीत किया। जयशंकर प्रसाद, मोहन राकेश या फिर समकालीन मीरा कांत सभी उल्लेखनीय नाटककारों ने स्त्री की जीवंत छवि को नाटकों में स्थापित किया है। स्त्री पात्रों की इस उपस्थिति को क्रमवार समझ कर बहुत से सूत्रों को स्पष्ट किया गया है।

मुख्य शब्द : हिंदी नाटक साहित्य, भारतेंदु युग।

प्रस्तावना

हिन्दी नाटकों में स्त्री विविध रूपों में अपने व्यक्तित्व का विस्तार पाती हैं। यहाँ उससे जुड़ी समस्याएं और विभिन्न मुद्दे तो हैं ही, साथ में एक व्यक्ति के रूप में स्त्री की आत्मकेंद्रित सोच के कारण आधुनिक जीवन में पैदा होने वाली कठिनाईयों की ओर भी संकेत है। हिन्दी नाटकों में एक ओर जहाँ देश और संस्कृति की रक्षा का संकल्प लेने वाली आदर्श स्त्रियाँ हैं तो 'सेक्सुअलिटी' और यौन–जीवन के सन्दर्भ में भी उनका व्यक्तित्व चित्रित हुआ है।

नाटक साहित्य की एक विशिष्ट विधा है। रचनाकार अपने जीवनानुभवों से उपजे विचार को साहित्य के इस रूप में कलात्मक विस्तार प्रदान करता है। रचनाकार की यह कलात्मक कोशिश उसे समाज के सर्वांगीण पक्षों से रूबरू कराती है। हिन्दी नाटक अपने जन्मकाल से ही सामाजिक उद्देश्यों से अनुप्रेरित कर रहा है। नाटक का प्रदर्शन केवल कौतुक का ही विषय नहीं होता, उसका उद्देश्य केवल मनोरंजन ही नहीं है। भारत के प्रख्यात शास्त्रकारों एवं नाटककारों, दोनों ने ही नाटक के प्रस्तुति व्यापार को केवल मनोरंजन से ही नहीं जोड़ा, अपितु हितोपदेश को भी उसकी एक अनिवार्य शर्त माना है। नाटकीय विचार यथार्थ की ठोस भूमि से पैदा होता है और यह अमूर्त विचार प्रदर्शन की कलात्मक युक्तियों के साथ दृश्याकार होता है। यह सुखद आश्चर्य की बात है कि संस्कृत नाट्य में जो स्त्री श्रृंगार की उदात्तता और करुणा की आर्द्रता के साथ केवल अन्तःपुर में ही निवास करती थी, हिन्दी नाटक के बीजवपन काल से ही अपना ठोस व्यक्तित्व ग्रहण करती हुई दिखाई देती है। भारतीय समाज सामंतीय मूल्यों का आज तक पोषण करता आ रहा है और समाज को इस सामंतीय मूल्य व्यवस्था में स्त्री पिसी और ठगी हुई ही दिखाई पड़ती है। भारतीय समाज व्यवस्था स्त्री के लिए एक ऐसे अंधे कुएं के समान है जिसमें एक बार गिरने के पल ने स्त्री की स्वाधीनता को हमेशा के लिए बाधित किया है। अपने सामाजिक दायित्व को पहचानते हुए हिन्दी नाटककारों ने शुरू से ही भारतीय समाज की इस आधी दुनिया को स्वतन्त्रता और स्वायत्तता प्रदान करने को अभीष्ट कोशिश की है।

भारतेंदु हिन्दी के पहले मौलिक नाटककार हैं। उन्होंने अपने समाज सापेक्ष रचनात्मक व्यक्तित्व द्वारा हिन्दी की इस अनुकरणमूलक कला को जो कालजयी चिंतन प्रदान किया उसकी अनुगूंज आज तक सुनाई पड़ रही है। 1857 के बाद सामाजिक दुरावस्था के उस समय में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने नवजागरणवादी स्त्री–दृष्टि से साम्राज्यवाद को चुनौती दी। भारतेंदु के नाटकों की स्त्रियाँ परम्परावादी नहीं, वे अपने स्वतन्त्र एवं निर्भीक विचारों से अपने समय की स्त्री से बहुत आगे का व्यक्तित्व लेकर आई। वे स्त्रीत्व और सतीत्व को राष्ट्रीय मसला मानकर अपने आत्म निर्णय की आजादी की घोषणा करती हैं। अपनी व्यवहार बुद्धि से राष्ट्र की बागडोर संभालकर जातीय रक्षा का पथ प्रशस्त करती हैं। अपने युग की समस्त उथल–पुथल और सामाजिक बदलाव की पृष्ठभूमि में पुरुष समाज के बरक्स अपनी अलग पहचान बनाती हैं। नाटकों में भारतेंदु का स्त्री–विमर्श परम्परा का अनुमोदन कतई नहीं करता बल्कि राष्ट्रीय

और सामाजिक संकट की उन गम्भीर परिस्थितियों में स्त्री–शक्ति को एक ढाल के रूप में उभारता है। अपने 'नीलदेवी' नाटक में भारतेन्दु ने स्त्री को कमतर समझने वाले पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री की पूरी अस्मिता और उसके महत्त्व को बरकरार रखा है और स्त्री के विवेक और उसकी वैचारिक समझ पर भरोसा दिखाया है, जो तत्कालीन रुढ़ियों से जड़ित समाज में क्रांतिकारी सोच थी। वस्तुतः स्त्री से जुड़े तमाम सुधारवादी और पुनरुत्थानवादी आन्दोलनों की गतिविधियों से आगे जाकर भारतेन्दु ने नीलदेवी के रूप में स्त्री के सम्मान को एक ठोस और व्यापक धरातल प्रदान किया। नीलदेवी की सूझ–बूझ और कूटनीति की सफलता के माध्यम से भारतेंदु पुरुषवादी सोच को चेतावनी भी दे रहे हैं कि अब स्त्री की प्रखर बुद्धि और क्षमता दलित और पतित बनी रहने वाली नहीं है। ''...पर्दानशी वातावरण में भी भारतेंदु की सोच स्त्रियों के प्रति इतनी व्यावहारिक और उदार ही नहीं थी, अपने समय से बहुत आगे थी। वे अच्छी तरह इस तथ्य को जान चुके थे कि जिस समाज में नारी की उपेक्षा होती रहेगी, वह किसी प्रकार का विकास नहीं कर सकता। इस सोच में कहीं भी धार्मिक पौराणिक पोंगापन नहीं था, बल्कि आकलन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचकर उन्होंने 'नीलदेवी' नाटक की भूमिका में भारतीय नारी–समूह को उद्‌बोधित भी किया है।''[1] भारतेंदु की इस क्रांतदर्शी प्रेरणा से भारतेंदु स्कूल का हर रचनाकार प्रभावित हुआ और उसने भी उसी स्त्री–दृष्टि के सहारे सामाजिक जीवन में जनजागरण अभियान चलाया जिसकी अपेक्षा उस समय का जड़ समाज अन्दर ही अन्दर कर रहा था।

सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन का दूसरा दौर जयशंकर प्रसाद से शुरू होता है। प्रसाद अपने नाटकों में अतीतकालीन उत्कर्ष का दर्शन लेकर आये। लेकिन यह अतीतोन्मुखता भारतीय इतिहास का कोरा स्वर्णयुगीन दंभ नहीं था। प्रसाद ने वर्तमान की पारस्परिकता में स्त्री की विविध छवियों का निर्माण किया। उनके स्त्री चरित्रों में साम्राज्यवाद विरोधी चेतना और सामंतवाद विरोधी भूमिका का विरोध बड़ा प्रबल है। एक ओर यदि उनके स्त्री चरित्र सामाजिक मुक्ति की आकांक्षा से प्रेरित होकर संघर्ष करते दिखते हैं तो दूसरी ओर उपनिवेशवाद के खिलाफ सड़कों पर उतारकर जनविद्रोह को अग्रेषित करते हैं। उनके स्त्री चरित्रों के पास, जाति और राष्ट्रीयता से ऊपर स्वयं वरण के अधिकार के साथ, गहरा विश्वबोध है। ध्रुरुस्वामिनी का चरित्र निर्भीक और बुद्धिप्रधान है, समस्त कथा का संचालन उससे सम्बन्ध रखता है। वह अन्त तक रामगुप्त का विरोध करती है...। अपनी दृढ इच्छाशक्ति के सहारे। उसके व्यक्तित्व में उस जागरूक नारी का स्वरूप है, जो विक्रय की वस्तु होने से इनकार कर देती है। उसके कथन में ओज और शक्ति है। नए युग की जाग्रत नारी का प्रतीक उसे कहा जाएगा।''[2] वस्तुतः अयोग्य और गैर–जिम्मेदार पति से छुटकारा पाने के जो अधिकार भारतीय संविधान छठे दशक में देता है. प्रसाद तीसरे दशक में ही अपने नाटक के माध्यम से दे देते हैं। इस अधिकार को दया या अनुदान के रूप में न दिखाया जाकर स्वयं ध्रुरुस्वामिनी को अपनी अस्मिता और स्वाभिमान के लिए लड़ते दिखाया है

''निर्लज्ज! मद्यप!! क्लीव!! ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूंगी। मैं उपहार में देने की वस्तु शीलमणि नहीं हूँ। मुझमें रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा में ही करूंगी।''[3]

राष्ट्रीय विपत्ति और पराभव की स्थितियों में प्रतिकार की सक्रिय भूमिका स्त्री चरित्रों के माध्यम से प्रसाद के नाटकों में विस्तार पाती हैं। उनके स्त्री चरित्र धर्म निरपेक्ष मूल्यों में विश्वास करते हुए सामाजिक समरसता के साथ राष्ट्रीय एकता और अखंडता को बढ़ावा देते दिखाई देते हैं। 'चन्द्रगुप्त' नाटक की अलका व कार्नेलिया, 'स्कंदगुप्त' में देवसेना और जयमाला, 'राज्यश्री' में राज्यश्री राष्ट्र–धवज हाथ में लेकर समस्त देशवासियों को एकजुटता का सन्देश देती नजर आती है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक का वह प्रसिद्ध गीत स्त्री–पात्र अलका ही तो गाती है–

''हिमाद्रि तुंग श्रृंग से, प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती
अमृत्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो
प्रशस्त पुण्य पंथ है–बढ़े चलो, बढ़े चलो।''[4]

कुल मिलाकर प्रसाद के स्त्री पात्रों का व्यक्तित्व भावात्मक ऊर्जा के साथ एक गम्भीर वैचारिकी के तौर पर विकसित किया गया है। स्वतन्त्रता आंदोलन में स्त्री छवि की सशक्त संकल्पना इस युग के नाटकों में देखी जा सकती है। जयशंकर प्रसाद के साथ उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, उपेन्द्रनाथ अश्क. लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि नाटककारों की स्त्री परिकल्पना का फलक राष्ट्रीय आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में विस्तृत और व्यापक रूप से विकसित होता दिखाई देता है।

आजादी भारत की हिन्दी साहित्य में रचनात्मकता का एक अति महत्वपूर्ण प्रस्थान बिन्दु है। राष्ट्रीय नवनिर्माण के साथ सामाजिक संस्कृति के बदलाव की प्रक्रिया विगत वर्षों में बड़ी तेजी से घटित हुई है। आजादी के बाद का पहला दौर हिन्दी नाटकों में स्त्रियों को हीनता बोध त्यागने की ओर बढ़ाता है। जगदीशचंद्र माथुर के नाटकों में स्त्री आजाद हिन्दुस्तान में पुरुष के साथ राष्ट्रीय नवनिर्माण और विकास में सक्रिय भूमिका अदा करती दिखाई देती है। साठ के बाद का दूसरा दौर स्त्री आकांक्षाओं का व्यापक दरवाजा खोलता है। अन्तर्राष्ट्रीय विचार आन्दोलनों से प्रभावित हिन्दी का मध्यवर्गीय नाटककार स्त्री–व्यक्तित्व की सूक्ष्म परतों को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उजागर करता है। इस दौर में स्त्री–पुरुष सम्बन्धों को आधार मानकर बहुत नाटक लिखे गए। पुरुष की प्रभूता से स्त्री आकांक्षाओं की टकराहट हुई। स्त्रियों ने पुरुष की वर्चस्ववादी मानसिकता के खिलाफ विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। इस दौर की स्त्रियाँ निजी जीवन को प्राथमिकता देते हुए समाज की सांस्थानिक इकाईयों में अपनी सुरक्षित जगह तलाश करती दिखाई देती हैं। आर्थिक सुरक्षा प्राप्त करने के बाद भी वे स्वयं को सामाजिक दृष्टि से अत्यंत असुरक्षित महसूस करती हैं। अपने व्यक्तित्व बोध के साथ अति

आत्मविश्वास से भरी, नाटक में चित्रित स्त्रियाँ, अपने लिए पुरुष के अस्तित्व को नकारती हुई दिखाई देती हैं। परिवार, समाज एवं व्यवस्था के सम्पूर्ण संस्थानों के खिलाफ संघर्ष करनेवाली आज की स्त्री हिन्दी नाटकों में भी एक मजबूत व्यक्तित्व लेकर अवतरित हुई है। ये सब वस्तुतः आज की सामाजिक पारस्परिकता के सम्बन्ध में रचनाकार की विचारशील संकल्पनाएँ हैं जो विभिन्न नाटकों में अलग–अलग स्त्री छवियों के रूप में मूत हुई है। व्यक्ति आकांक्षा के साथ–साथ सामाजिक आकांक्षाएं भी नाटक के स्त्री व्यक्तित्वों के माध्यम से व्यक्त हुई हैं। शंकर शेष के नाटक 'कोमल गांधार' में गांधारी के माध्यम से स्त्री के मूक विद्रोह को उभारा गया है। पौराणिक समाज से चली आ रही रूढ़ पतिव्रता मान्यताओं को बदलने की एक सोच अपने दर्शक/पाठक में इस नाटक में गांधारी का चरित्र भरता है। भीष्म साहनी के 'माधवी' नाटक में पिता, पति, ऋषियों–मुनियों द्वारा बनायी गयी व्यवस्था में निरंतर शोषण से त्रस्त स्त्री की अस्मिता और उसके अस्तित्व पर प्रश्न उठाया गया है। अन्ततः एक वस्तु के रूप में प्रयुक्त हुई माधवी स्वयं अपनी पहचान और स्वाभिमान की दिशा का निर्धारण करने का निर्णय लेती है।

मोहन राकेश के नाटकों में स्त्री का परम्परागत 'भावना में भावना का वरण' करने वाला रूप भी है वहीं सावित्री के माध्यम से आधुनिक जीवन में लगातार संघर्ष करके कटुतम परिस्थितियों को जीने वाला रूप भी है। दोनों ही स्त्रियों में सबसे बड़ी समानता है कि पुरुष उनके साथ तो हैं परन्तु उस पुरुष का होना न होना उनके लिए बराबर है। मात्र 'रबड़ स्टैम्प' की तरह इस्तेमाल होने वाले पुरुष के साथ के लिए वह इनकार करना जानती हैं। महेन्द्रनाथ हो या कालिदास दोनों ही मानो यह तय मान बैठे हैं कि स्त्रियां उन्हें छोड़कर कहीं नहीं जा सकती, परन्तु दोनों ही स्त्रियां अपना प्रतिरोध दर्ज कराती हैं। महेन्द्रनाथ सावित्री से अलग होकर भी अलग नहीं हो पाता और लौटता है परन्तु कालिदास की वह नियति भी नहीं। अपने–अपने स्तर पर दोनों ही पुरुष जानते हैं कि वे अपनी महत्ता खो चुके हैं और अब स्त्री के स्वीकार का प्रश्न कहीं नहीं उठता। वस्तुतः ''राकेश के नाटकों में नारी कहीं भी उस सहयोगात्मक रूप में नहीं दृष्टिगत होती, जहां वह दाम्पत्य की नींव को सुदृढ़ रखती है, उसके व्यक्तित्व के आश्रय से घर–परिवार एक सशक्त भूमिका में उभरता है, वह पुरुष के व्यक्तित्व में स्वयं को विलीन कर एक व्यक्तित्व के रूप में उभरती है और जीवन को मधुरतम बनाती हुई अपनी सार्थकता पाती है। वस्तुतः इसी मधुर भावना का संचार करना उसका नारीपन है। किन्तु यहाँ नारी या तो प्रेमिका की भूमिका पर स्थित होते हुए अपना सर्वस्व उस भावना को पाने के लिए गवां देती है जिसके आश्रय से यथार्थ का सामना करना सम्भव नहीं या फिर वह अहं एकाधिकारवादी व्यक्तित्व रखती है जो पुरुष की निजता का हरण कर उस पर स्वयं को आरोपित करना चाहती है, इसी से वह कभी भी पुरुष के समीप जाकर उसकी मनः स्थिति से तालमेल बैठाते हुए जीवन को एक सुनिश्चित मार्ग पर अग्रसर नही कर पाती।''[5]

सुरेन्द्र वर्मा ने अपने स्त्री पात्रों के माध्यम से पुरुष मात्र का विरोध न करके पुरुष सत्तात्मक प्रवृत्ति का विरोध किया है। उनके द्वारा रचित स्त्रियाँ प्रेम भी करती हैं, प्रेम का स्वीकार भी करती हैं, कोमलता और भावना का वरण भी करती हैं परन्तु जहाँ कोई भी सत्ता, चाहे वह अमात्य परिषद् हो अथवा पुत्र उसके प्रति अपना विरोध दर्ज कराती हैं। अमात्य परिषद् यहाँ मात्र पुरुषों का प्रतिनिधित्व नहीं करती बल्कि एक ऐसी सत्ता और व्यवस्था के रूप में आती हैं जो लामबन्द होकर स्त्री की शक्ति को दमित करने का प्रयास करती है। सुरेन्द्र वर्मा की स्त्री इन सबके विरुद्ध अकेले लड़ने का साहस भी रखती है।

मीराकांत के नाटकों–'नेपथ्य राग', 'कंधे पर बैठा था शाप'– की स्त्री युगों–युगों से चली आ रही स्त्री परतन्त्रता का विरोध करने का साहस जुटा रही है पर उसकी त्रासदी यह है कि अपनों द्वारा ही उसकी जबान काट दी जाती है। मीराकांत स्त्री की पीड़ा से साक्षात्कार भी करवाती हैं और इस प्रश्न को भी रखती है कि आखिर ऐसा कब तक चलता रहेगा। परम्परागत स्त्री से लेकर आधुनिक स्त्री के वैदुष्य के स्वीकार में ही वह मुक्ति का मार्ग स्वीकार करती है। ''स्त्री–मुक्ति और स्त्री–विमर्श के परिप्रेक्ष्य में मीराकांत के नाटक विशेष स्थान रखते हैं। स्त्री मुक्ति का तात्पर्य स्त्री को स्त्रीत्व से वंचित करना नहीं है। स्त्री–मुक्ति का अर्थ–स्त्री की सम्भावनाओं को स्वीकार करके उसे चरम परिणति तक पहुँचाना है। मीराकांत अपने नाटकों के माध्यम से ऐसे समय में उन सवालों को उठाती हैं जब स्त्री के हकों, अधिकारों पर न केवल बहस, विमर्श किया जा रहा है अपितु संवैधानिक व कानूनी तौर पर स्त्री को समानाधिकारी बनाने के नियम उपनियम बनाए जा रहे हैं। मीराकांत स्त्री संघर्ष को अपने नाटकों के माध्यम से आवाज देती हैं। उनके स्त्री–पात्र अपनी नियति की विडंबना को परिवर्तित करने के लिए संघर्षरत हैं। ये पात्र स्त्री से जुड़ी समस्त लड़ाई का प्रतिनिधित्व करते हैं– स्त्री–अस्तित्व की रक्षा की कामना करते हुए स्त्री–व्यक्तित्व के निर्माण के समानाधिकार की माँग करते हैं तथा समाज में नारी–चेतना की लहर को आगे बढाते हैं।''[6]

स्वदेश दीपक 'सबसे उदास कविता' नाटक में अपूर्वा के माध्यम से एक ऐसी स्त्री की रचना करते हैं जो अपने भीतर की समस्त शक्ति को संचित कर सत्ता और व्यवस्था का विरोध करती है। स्त्री सुलभ आकांक्षाएँ उसमें भी हैं, वह प्रेम भी करती है पर अपने वैयक्तिक प्रेम को पीछे धकेल कर वह व्यवस्था के प्रति विरोध को आवश्यक मानती है। व्यक्तिगत प्रेम से आगे बढ़कर समूह के प्रति दायित्व को अपनाती है। उसका विरोध मात्र पुरुष वर्ग से न होकर सत्ता के लिए लामबन्द सभी विरोधियों से है, जो जीने के अधिकार का हनन करते हैं।

प्रभाकर श्रोत्रिय का नाटक 'इला' स्त्री प्रश्नों को एक अर्द्ध पुरुष अर्द्ध नारी या कहें पुरुष शरीर और नारी के मन के माध्यम से दर्शाता है। कोमलता वहीं है, जहाँ स्त्री है। पुरुष मन अधिकार सूत्रों को बाँधता–मरोड़ता हुआ न जाने कितने प्रश्नों में उलझा रहता है पर कोमलमना स्त्री का संसार ही भिन्न है। स्त्री मन वाला

प्रद्युम्न बार–बार कहता है कि यह संसार कभी भी उसकी पीड़ा नहीं समझेगा। उत्तरदायित्वों का बोझ उसे झुकाता है वहीं 'इला' का स्वरूप उसे मुक्त भी करता है और जीने की शक्ति भी प्रदान करता है। स्त्री पर किये जाने वाले अनैतिक प्रयोगों के विरुद्ध यह नाटक अपना प्रतिरोध दर्ज कराता है। '' 'जेनेटिक्स' से लेकर 'बाल विवाह' के ज्वलंत और नारी विमर्श की नींव में छिपे मुद्दों को अपने स्त्री–प्रश्नों का आधार बनाकर डॉ. श्रोत्रिय ने स्त्री–प्रश्नों को एक गहन और सार्थक दिशा प्रदान की है। जिसकी महत्ता आगामी दशकों में निस्संदेह और अधिक गहराएगी।''[7]

अध्ययन का उद्देश्य

इस आलेख का उद्देश्य है स्त्री की नाटकों में उपस्थिति के माध्यम से हिंदी साहित्यिक दुनिया मे बनती स्त्री की पहचान को रेखांकित करना। आधुनिक युग के प्रमुख नाटककारों के माध्यम से स्त्री की नई पहचान की विवेचना करना।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम पाते हैं कि हिन्दी नाटकों में स्त्री विविध रूपों में अपने व्यक्तित्व का विस्तार पाती हैं। यहाँ उससे जुड़ी समस्याएँ और विभिन्न मुद्दे तो हैं ही, साथ में एक व्यक्ति के रूप में स्त्री की आत्मकेंद्रित सोच के कारण आधुनिक जीवन में पैदा होने वाली कठिनाईयों की ओर भी संकेत है। हिन्दी नाटकों में एक ओर जहाँ देश और संस्कृति की रक्षा का संकल्प लेने वाली आदर्श स्त्रियाँ हैं तो 'सेक्सुअलिटी' और यौन–जीवन के सन्दर्भ में भी उनका व्यक्तित्व चित्रित हुआ है। यहाँ स्त्री वर्षों से चली आ रही मर्यादा की रेखा का उल्लंघन करती नजर आती है। इस उल्लंघन के सकरात्मक और नकारात्मक मानवीय पक्षों को नाटककारों ने विभिन्न सरोकारों से जोड़कर दिखाया है। एक ओर वह शिक्षित होकर आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर और आत्म–निर्णय लेने की क्षमता से युक्त हुई है, तो दूसरी ओर आधुनिक जीवन शैली और मूल्यों में आये बदलाव के कारण आत्ममुग्ध भी हुई है। अति– महत्त्वाकांक्षा के कारण वह कुंठित व निराश है, तो दूसरी ओर अपनी विस्तृत सोच के कारण देश और दुनिया को समुचित दिशा दिखाने में भी समर्थ है।

अंत टिप्पणी

1. *हिन्दी नाटक–नई परख, सं रमेश गौतम*
2. *हिन्दी साहित्य कोश, भाग–दो*
3. *ध्रुवस्वामिनी–जयशंकर प्रसाद*
4. *चन्द्रगुप्त–जयशंकर प्रसाद*
5. *कोमल गांधार–शंकर शेष*
6. *आधे–अधूरे–मोहन राकेश*
7. *नेपथ्य राग–मोहन राकेश*